Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-313-318

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.-313-318
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

डॉ. मिथिलेश कुमार

अतिथि सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना.

Corresponding Author :

डॉ. मिथिलेश कुमार

अतिथि सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना.

वैदिक कालीन प्रचलित कलाएँ (ऋग्वेद के सन्दर्भ में)

सारांश: ऋग्वैदिक काल (1500 ई.पू.–1000 ई.पू.) भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम स्वरूप प्रस्तुत करता है, जिसमें कला, साहित्य और जीवन के विविध आयाम स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस युग की कलाएँ मुख्यतः धार्मिक, सामाजिक और प्राकृतिक जीवन से जुड़ी हुई थीं।

ऋग्वेद में संगीत और नृत्य का विशेष उल्लेख मिलता है। वैदिक ऋचाएँ स्वयं में गेय रचनाएँ थीं, जिन्हें सामूहिक स्वर में गाया जाता था। सामूहिक अनुष्ठानों में वीणा, मृदंग और वंशी जैसे वाद्ययंत्र प्रयुक्त होते थे। नृत्य भी देवपूजन और उत्सवों का अंग था, जिसमें सामूहिक सहभागिता दिखती थी।

चित्रकला और मूर्तिकला का प्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में सीमित है, किंतु 'चित्र', 'रूप' और 'प्रतिमा' जैसे शब्दों से रेखांकन और आकृतियों की परंपरा का संकेत मिलता है। गृहनिर्माण कला का भी उल्लेख मिलता है, जिसमें लकड़ी और मिट्टी से बने घर, मंडप और वेदियों का वर्णन है।

शिल्पकला का विकास मुख्यतः यज्ञीय उपकरणों, रथों, शस्त्रों और आभूषणों में देखा जाता है। रथ-निर्माण और धातु-कार्य (स्वर्ण, रजत, ताम्र) उस काल की तकनीकी कला का प्रमाण है। स्त्रियाँ विविध अलंकरणों और वस्त्रों से सौंदर्य-वृद्धि करती थीं, जो वस्त्र-निर्माण और कुटीर उद्योग की उन्नति दर्शाता है।

कुल मिलाकर ऋग्वैदिक युग की कलाएँ धार्मिक आस्था, उत्सवों और दैनिक जीवन से गहराई से जुड़ी थीं। इन कलाओं ने न केवल सामाजिक जीवन को समृद्ध किया, बल्कि आगे चलकर भारतीय कला-संस्कृति की आधारशिला भी रखी।

मुख्य शब्द: शिल्पकला, ऋग्वैदिक काल, मृद्भाण्डकला, पशुपालन, केशसंस्कार, बढ़ईगीरी, लोहारी, चर्मकारी, सोनारी।

प्रस्तावना: कला मानव जीवन में महती उपयोगी है। कला का जन्म

मानव जीवन के उद्भव के साथ ही हुआ; इसको किसी भी रूप में मनुष्य से पृथक नहीं किया जा सकता। इसके प्राचीनतम स्वरूप या पुरातन कलापरम्परा का ज्ञान हम पुरातत्त्वविज्ञान के अन्वेषण तथा प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम इतिहास को प्रमाण रूप में स्वीकार करें तो पुरातत्त्वविदों के अनुसार पुरापाषाणकाल में मनुष्य सभ्यता-संस्कृति से हीन जंगलों में फल-फूल, मांसादि भक्षण करके अपनी क्षुधा की तृप्ति कर जीवन यापन कर रहा था। धीरे-धीरे वह जंगलों से पहाड़ों, कन्दराओं (गुफाओं) में रहना सीख लिया, जानवरों का शिकार करके उनकों खाना, वृक्षों की छालों का वस्त्र या जानवरों की खाल को वस्त्र रूप में धारण करना सीखा। आगे चलकर पत्थरों एवं जानवरों की हड्डियों का औजार बनाना, आगजलाना, गुफाओं में चित्र बनाना, झोपड़ी निर्माण, मिट्टी के घर बनाना, जानवर (कुत्ते आदि को) पालना इत्यादि सीखता गया। जैसे-जैसे मनुष्य विकसित होता गया वैसे-वैसे उसके साथ ही कला भी विकसित होती गयी। शनैः शनैः मनुष्यों में सभ्यता, संस्कृति तथा धार्मिक आस्था के विकास के साथ-साथ उनमें कला की भावना का भी पर्याप्त मात्रा में विकास हुआ। इसका प्रमाण सैंधव सभ्यता की खोज से मिलता है; सिन्धु घाटी सभ्यता का समय लगभग 2500 ई0 पु0 से 1500 ई0 पु0 तक माना जाता है। यद्यपि तत्कालीन समय में अन्य सभ्यताएँ जैसे- मिश्र की सभ्यता, मेशोपोटामिया की सभ्यता आदि भी विकसित थीं; किन्तु सिन्धुसभ्यता उनमें सर्वाधिक विकसित सभ्यता के रूप में जानी जाती है।

सिन्धु सभ्यता के हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्दूदड़ो, लोथल, कालीबंगा, वनावली, धोलावीरा, राखीगढ़ी इत्यादि स्थलों से प्राप्त साक्ष्य; जो तत्कालीन सभ्यता तथा वहाँ प्रचलित चित्रकला, स्थापत्यकला आदि के परिचायक हैं। जैसे- नगर एवं भवन निर्माण में रक्षाप्राचीर, दुर्ग, चबूतरे, अन्नागार, बृहद्रस्नानागार, पुरोहित आवास, सभाभवन इत्यादि के अवशेष साक्ष्य रूप में प्राप्त हुए हैं। यदि आर्थिक जीवन की बात करें तो कृषि, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य से परिचित थे। उत्खनन में गेहूँ, जौ तथा चावल के दाने मिले हैं; जो कि तत्कालीन कृषिकार्य का प्रमाण है। धार्मिक विकास पर दृष्टिपात करें तो यहाँ मातृदेवी की उपासना तथा वृक्षों एवं नागों की पूजा की जाती थी। यह सभ्यता मातृसत्तात्मक थी। सिन्धु सभ्यता में कला एवं स्थापत्य का भी बहुतायत विकास देखने को मिलता है। यहाँ से मूर्तिकला के साक्ष्य मिले हैं। मूर्तियाँ धातु, पत्थर अथवा मिट्टी की बनी होती थीं। काँसे की बनी नर्तकी, मिट्टी की बनी गुरिया (मनका) तथा स्त्री-पुरुष की मूर्तियाँ, खिलौने इत्यादि बनाये जाते थें। मृद्भाण्ड- बड़े-बड़े जार, तस्तरी, मटका आदि की कारीगरी होती थी। ताँबे, सोने एवं चाँदी के आभूषण भी बनाये जाते थे। पशुओं की हड्डी के भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाती थीं। यहाँ से एक मुहर प्राप्त हुई है, जिस पर पशुपति शिव का चित्रांकन है।

इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 2500 ई0 पू0 से 1500 ई0 पु0 के बीच मनुष्यों में सभ्यता के साथ ही कारीगरी या कला-कौशल का भी विकास हो चुका था।

कला के विकास को और स्पट रूप में समझने के लिए विश्व के प्राचीनतम साहित्य का अवलोन आपेक्षित है। वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। वेद ही विश्व में उपलब्ध साहित्यिक ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। वेदों में वर्णित जीवन-शैली, रीति-रिवाज, देवस्तुति, याज्ञिक विधिविधान आदि के माध्यम से वैदिक कालीन कला के उन्नयन को समना अत्यधिक सहज हो जाता है। आज सम्पूर्ण विश्व जिन कलाओं से परिचित है; उनमें से बहुत सी कलाएँ वैदिक काल में प्रचलित थीं। वास्तुकला, मृद्भाण्डकला, कढ़ाई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लोहारी, चर्मकारी, सोनारी, माला बनाने की कला, केशसंस्कार, भैषज्यकला, संगीत, नृत्य, काव्य, नाट्य इत्यादि कलाएँ प्रसिद्ध थीं। यथा-

वास्तुकला - ऋग्वैदिक काल में वास्तुकला का विकास हो चुका था। ऋग्वेद में दुर्ग, प्रासाद, भवन आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। धनी और अभिजात वर्ग दुगर्गों, प्रासादों और भवनों में रहते थे; जो पत्थरों के खण्डों अथवा अन्य कठोर वस्तुओं से बनाये जाते थें- **शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुशे ।।** (जोशी/4/30/20/पृ0 315) पैसे अत्यन्त सुन्दर प्रासादों का भी उल्लेख किया गया है जिनके निर्माण में लकड़ी का प्रयोंग अधिक मात्रा में

होता था तथा ऐसा भी वर्णन प्राप्त होता है कि मित्र तथा वरुण के पास एक ऐसा प्रासाद था; जिसमें एक सहस्र स्तम्भ थे-

त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि ।
वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः ।। (जोशी/7/5/3/पृ0 478)
राजानावनभिदुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्त्रस्थूण आसाते ।। (जोशी/2/41/5/पृ0 227)

लौह दुर्ग तथा नगरों का भी उल्लेख किया गया है। अनेक रूपों के निवासस्थानों, जैसे गृह, हर्म्य आदि का वर्णन प्राप्त होता है-

यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परिळाभिधृतवद्भिश्च हव्यैः।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि।।
अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। (ऋग्वेद संहिता/7/3/7/पृ0 476)
यत्रा स्थस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिना दक्षिणावत् ।। (ऋग्वेद संहिता/3/53/6/पृ0 273)
अत्यासो न ये मरुतः स्वञ्चो यक्षद्दशो न शुभयन्त मर्याः।
ते हम्र्येष्ठाः शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिनः पयोधाः ।। (ऋऋग्वेद संहिता/7/56/16/पृ0 515)

ऋग्वेद के सातवें मण्डल में वास्तु अथवा भवन पर शासन करने वाले देवता 'वास्तोष्पति' को सम्बोधित किया गया है- **वास्तोश्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।**
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुशस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुश्पदे ।।
वास्तोश्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुशस्व ।।
वास्तोश्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत्त योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। (ऋग्वेद संहिता/7/54/1-3/पृ0 513)
अमीवहा वास्तोश्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
सखा सुशेव एधि नः।। (ऋग्वेद संहिता/7/55/1/पृ0 513)

मृद्भाण्डकला- वैदिक युग में मिट्टी के वर्तनों की सरलता से रचना करने वाले कुम्भकार का भी उल्लेख प्राप्त होता है-

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पूरो अरदन्न सिन्धून् ।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ।। (ऋग्वेद संहिता/10/89/7/पृ0 862)

कढ़ाई- मरुतों के विषय में कहा गया है कि वे स्वर्ण से अलङ्कृत प्रावार (चोंगा) धारण करते थे। वरुण देवता के वर्णन में यह कहा गया है कि वे सुवर्णसूत्रालंकृत अर्थात् सोने के सूत से कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करते थें। कढ़े हुए वस्त्र को पेशस् कहा गया है-

यदश्वान्घूर्श पृशतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान्प्रत्यत्कॉं अमुग्ध्वम्।
विश्वा इत्स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ।। (कन्हैयालाल जोशी/5/55/6/पृ0 382)
साध्वपांसि सनता न उक्षिते उशासानक्ता वय्येव रण्विते ।
तन्तुं ततं संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती ।। (कन्हैयालाल जोशी/2/3/6/पृ0 190)

बुनाई की कला- ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि भेड़ों के ऊन को काटकर उससे ऊनी वस्त्र बनाये जाते थे। उस समय लोग बुनाई की कला को सीखते और उसको अपनी जीविका का साधन बनाते थे। इनको 'वाय' कहा जाता था। बुनाई के यन्त्र को 'तन्त्र' कहते थे-

आधीशमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ।। (जोशी/10/26/6/पृ0 794)

इमे ये नार्वाङ्न परिश्वरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ।। (जोशी/10/71/9/पृ0 842)

बढ़ईगीरी- उस समय बढ़ई का काम करने वाले लोग थे, जिनको 'तष्ट्र' या तक्षन् कहते थे। वे रथ के पहिये, नौकाएँ और लकड़ी के बर्तन बनाते थे-

अहं तश्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् ।
कुवित्सोमस्यापामिति ।। (जोशी/10/119/5/पृ0 896)
नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिश्टं रुतं भिशग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि सव।। (जोशी/9/112/2/पृ0 769)

लोहारी- खेतों के काम में आने वाले औजार तथा युद्धोपयोगी शस्त्र आदि बनाने वाले लोहार को उस समय 'कार्मार' कहा जाता था- **जरतीभिरोशधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम् ।**
कार्मारो अश्मभिर्चुभिर्हिरण्यवन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्त्रव।। (जोशी/9/112/2)

चर्मकारी- वैदिककाल में चमड़े के कारीगर को 'चरमम्न' कहा जाता था। वेदों में चमड़े के बने हुए उन बर्तनों का भी उल्लेख मिलता है; जिसकी रचना वे लोग करते थे; जो चमड़े को कमाना और उसको उपयोगी स्वरूपों में सीना जानते थें- **यो मे हिरण्यसन्दृशो दश राज्ञो अमंहत ।**
अधस्पदा इच्चैद्यस्य कृश्टयश्चर्मग्ना अभितो जनाः ।। (जोशी/8/6/38/पृ0 563)

सोनारी- सोने के अलङ्कार जैसे- कण्थहार (निष्क) कर्णकुण्डल आदि को बनाने वाले स्वर्णकार या सुनार भी वैदिककाल में पाये जाते थें-

निश्कं वा घा कृणवते सजं वा दुहितर्दिव त्रिते दुश्वप्न्यं ।
सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊत्तयः ।। (जोशी/8/47/15/पृ0 630)

मालाग्रथन कला- वैदिक काल में माला बनाने की कला से भी लोग परिचित थे, वे फूलों से मालाएँ एव अन्य अलङ्कारो को बनाते थे-

निश्कं वा घा कृणवते राजं वा दुहितर्दिव त्रिते दुश्वप्न्यं ।
सर्वमाप्त्ये परि दास्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ।। (जोशी/8/47/15/पृ0 630)

केशसंस्कारकला- वेदों में 'वप्ता' अर्थात् नाई का भी उल्लेख मिलता है-

यदुद्वतो निवतो यासि बप्सत्पृथगेशि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपासि प्र भूम।। (जोशी/10/142/4/पृ0 914)

भैशज्यकला- उस समय में चिकित्सक भी थे, जिनको 'भिषक् कहा जाता था-

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिश्टं भिर्शब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्द्रो परि सव।। (जोशी/9/112/1/50 709)

संगीतकला- वैदिक युग में संगीत कला का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वेदों में दुंदुभी (ढोल) का उल्लेख है। आघात से बजने वाले जैसे ढोल, तार से बनी हुई वीणा और वायु संचार से बजने वाली बाँसुरी इन तीन प्रकार के वाद्ययन्त्रों का वर्णन किया गया है। उस समय संगीत का अत्यधिक आदर किया जाता था। वाद्य एवं गेय दोनों रूपों के संगीत का उल्लेख किया गया है। एक वाद्य का नाम कर्करी था। मरुतों के वाद्यों का नाम क्षोणी, वीणा और वाण थें-

उप श्वासय पृथिवीमुत द्या पुरुत्रा ते मनुतां विश्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रण देर्वदूरादवीयो अप सेघ शत्रून् ।।
आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा निःष्टनिहि दुरिता बाधमानः।

अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुतिरसि वीळयस्व ।।
आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु।। (जोशी/6/47/29-31/पृ0 447)

वेदों में संगीतकला के लिए सामवेद सर्वप्रसिद्ध है। सामवेद को गानवेद भी कहा जाता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान को साम कहते हैं। अत्यन्त प्राचीन भारतीय संगीत का विशद् वर्णन सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है; जो परवर्ती काल से लेकर आज तक के भारतीय संगीत के लिए आधारस्वरूप हैं।

नृत्यकला- ऋग्वेद में स्त्री और पुरुष दोनों के नृत्य का वर्णन प्राप्त होता है। बांस की छड़ियों को ऊपर आकाश की ओर उठाकर नृत्य करते हुए स्त्रियों एवं पुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। नाचने वाले व्यक्ति को नृत तथा स्त्री को नृतु कहा जाता था। नृतु शब्द सम्भवतः उस नित्यजीवी नारी के लिए किया जाता था, जो नृत्य के समय कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करती थीं और लोगों को आकर्षित करने के लिए अपने स्तनों को अनावृत कर देती थीं। एक स्थल पर एक अन्त्येष्टि क्रिया के अवसर पर नृत्य के साथ-साथ हास का भी उल्लेख है-

अधि पेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णते वक्ष उखेव वर्जहम् ।
ज्योतिर्विश्वस्मै भवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युश्शा आवर्तमः ।। (जोशी/1/92/4/पृ0 73)

काव्यकला- काव्यकला का ऋग्वेद स्वयं उत्कृष्टतम उदाहरण है। तत्कालीन काव्यकला उत्कृष्टता को प्राप्त कर ली थी। वैदिक कवि द्रष्टा एवं ऋषि थे। उन्होंने चारित्रिक एवं आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया था और उनकी अभिव्यक्ति समुचित छन्दों में की। सम्भवतः वे विश्व के सबसे अधिक प्राचीन कवि थे। ऋग्वेद में प्राकृतिक एवं काल्पनिक काव्य-प्रवृत्तियों का स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है, जैसा कि उषस्, सूर्य, चन्द्र आदि के वर्णन से ज्ञात होता है। ऋग्वेद में उन जटिल और सूक्ष्म विषयों का भी वर्णन है; जिनका अनुभव हम स्थूल इन्द्रियों से नहीं; परन्तु अपनी मानसिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से कर सकते हैं। इस प्रकार से हमको वरुण का वह भव्य स्वरूप मिलता है; जो कि उस ईश्वर के स्वरुप के समान है-

यत्किं चेद वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुश्या३श्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा यूयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिशः ।।

वैदिक काव्य का आधार प्रमुख रूप से तत्कालीन धर्म के सजीव और दृढ़ सिद्धान्त हैं। वेदकालीन धार्मिकों के लिए देवगण उतने ही यथार्थ हैं; जितने कि उनके मित्र और पड़ोसी। मृत्यु के उपरान्त आत्मा के अस्तित्व को उसके लौकिक अस्तित्व की भाँति वे यथार्थ मानते थे। यथार्थ और स्वाभाविकता की यह प्रवृत्ति वैदिक काव्य को उत्कृष्टता प्रदान करती है। नासदीय सूक्त संख्या 10/129 में सृष्टि की पूर्वदशा की जिस प्रकार कल्पना और भावना मिलती वैसी अन्यत्र दुर्लभहै। वैदिक काव्यों में अलङ्कारों का भी प्रयोग है। रूपक, उत्प्रेक्षा एवं उपमा अलङ्कार उषस् आदि सूक्तों में प्राप्त होते हैं।

नाट्यकला- नाट्य की उत्पत्ति का आधार वेद ही है। ऋग्वेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं, जिनमें संवाद या कथोपकथन पाये जाते हैं। जैसे पुरुरवा उर्वशी संवादसूक्त, यम-यमी संवादसूक्त, शरमा पाणि संवादसूक्त, विश्वामित्र नदी संवादसूक्त आदि।

निष्कर्ष: ऋग्वेद मानव सभ्यता के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक है, जिसमें न केवल धार्मिक व दार्शनिक चिंतन मिलता है, बल्कि उस काल की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक जीवनशैली का भी चित्रण मिलता है। वैदिक युग की कलाएँ समाज की धार्मिक आस्था, जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक चेतना से गहराई से जुड़ी हुई थीं। ऋग्वेद में संगीत, नृत्य, वाद्ययंत्र, स्थापत्य और शिल्पकला के उल्लेख मिलते हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि कला उस समय केवल मनोरंजन का साधन न होकर आध्यात्मिक साधना और सामाजिक एकता का भी माध्यम थी।

संगीत और स्तोत्र पाठ वैदिक जीवन का केंद्र था, जहाँ ऋचाओं का सामूहिक गायन देवपूजन और यज्ञ अनुष्ठानों का अभिन्न अंग बन चुका था। वीणा, मृदंग, डमरु आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवसरों पर होता था। इसी प्रकार, नृत्य को भी देवताओं को प्रसन्न करने और उत्सवों में सामूहिक आनंद के साधन के रूप में देखा जाता था। साथ ही, हस्तशिल्प, वस्त्र निर्माण, रथ एवं औजार निर्माण की कला का भी विकास हुआ, जिससे तत्कालीन समाज की सृजनात्मकता और तकनीकी दक्षता का बोध होता है।

इस प्रकार, ऋग्वेद से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन कलाएँ केवल सौंदर्य-बोध की अभिव्यक्ति नहीं थीं, बल्कि वे धर्म, संस्कृति, सामाजिक एकता और जीवन के विभिन्न आयामों से गहराई से जुड़ी थीं। इन कलाओं ने न केवल वैदिक समाज को आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान की, बल्कि आगे चलकर भारतीय कला एवं संस्कृति की नींव रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

सन्दर्भ-सूची :

1. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/4/30/20/पृ0 315/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
2. ऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/7/5/3/पृ0 478/ चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
3. ऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/2/41/5/पृ0 227/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
4. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/ऋग्वेद संहिता/7/3/7/पृ0 476/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
5. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/ऋग्वेद संहिता/3/53/6/पृ0 273/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
6. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/ऋऋग्वेद संहिता/7/56/16/पृ0 515/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
7. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी /ऋग्वेद संहिता/7/54/1-3/पृ0 513/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
8. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी / ऋग्वेद संहिता/7/55/1/पृ0 513/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
9. सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/ऋग्वेद संहिता/10/89/7/पृ0 862/ धौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
10. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/5/55/6/पृ0 382/चौखम्मा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
11. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/2/3/6/पृ0 190/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
12. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/10/26/6/पृ0 794/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
13. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/10/71/9/पृ0 842/चौखम्मा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
14. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/10/119/5/पृ0 896/चौखम्भा ओरियन्टालिया. वाराणसी/2000
15. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/9/112/2/पृ0 769/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
16. ऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/9/112/2/पृ0 769/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
17. ऋऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/8/6/38/पृ0 563/धौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
18. ऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/8/47/15/पृ0 630/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
19. त्राग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/8/47/15/पृ0 630/भीखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
20. ऋग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/10/142/4/पृ0 914/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
21. आग्वेद संहिता/सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/9/112/1/50 709/चौखम्मा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
22. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/6/47/29-31/पृ0 447/चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
23. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/1/92/4/पृ0 73/ चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000
24. ऋग्वेद संहिता / सम्पा0 कन्हैयालाल जोशी/7/89/5/पृ0 538/ चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी/2000

•